भारत के विभिन्न धर्मो की कीर्तन प्रणलियां

डॉ॰ जतिंदर कौर
ऐसोसिऐट प्रोफेसर, संगीत गायन विभाग, खालसा कालेज फोर वूमैन, अमृतसर

Abstract

भारत के विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों में भक्ति संगीत का प्रचार कीर्तन द्वारा हुआ। इसके लिए सबसे पहले ध्रुपद धमार शैली को अपनाया गया एवं बाद में मनुष्य ने अपनी रूचि के अनुसार इसमें ख्याल, टप्पा, कव्वाली एवं गजल आदि गायन शैलियों का भी प्रयोग किया धीरे–धीरे कीर्तन प्रणाली में रागों की शास्त्रीयता को छोड़कर उप–शास्त्रीय संगीत एवं लोक धुनों पर भी कीर्तन होने लगा। सभी धर्मों ने इन गायन शैलियों को सहज ही स्वीकार किया एवं हर प्रयोजन से कीर्तन द्वारा अपने–अपने धर्म का प्रचार किया।

भारत के सभी धर्मों में संगीत के माध्यम से भगवद् आराधना की गई। भक्ति अन्दोलन के समय संगीत ने भजन कीर्तन का रूप लिया और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतीय संगीत समृद्ध हुआ।

वैष्णव सम्प्रदाय के अर्न्तगत कीर्तन प्रणाली के लिए सबसे प्राचीन गायन शैली ध्रुपद धमार शैली का विशेष स्थान रहा है। कीर्तन में गाए जाने वाले पद ध्रुपद धमार शैली पर ही आधारित होते थे। वल्लभाचार्य जी के समय सूरदास, परमानंददास तथा कुम्भन्दास श्रीनाथ जी की सभी झांकियों में कीर्तन किया करते थे। विट्ठल दास जी के समय में कीर्तन प्रणाली को सुव्यवास्थित और विस्तृत रूप दिया गया। उन्होंने आठों समय की झांकियों में प्रथक–प्रथक कीर्तनकार नियुक्त किए। विट्ठलदास जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना की। अष्टछाप के आठों कीर्तनकार आठों झांकियों के कीर्तन में विशिष्ठ ऋतु और काल के अनुसार अनेक राग रागनियों में भगवद कीर्तन किया करते थे। बिटठल दास जी ने कीर्तन सेवा में चित्रित वाद्य यन्त्रों का समावेश किया ध्रुपद के अर्न्तगत संगीतज्ञों ने कुछ तालों का भी पदों के शीर्ष पर निर्देश किया है जैसे अठताल, चौताल, तीव्रा आदि। कीर्तन प्रणाली अक्षर व स्वर प्रधान होने से उसमें कालांतर में कुछ स्थान आलापचारी, सरगम, बोलतानें, तानें तथा लयकारी आदि को स्वतः ही मिल गया।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में कीर्तन गायन पद्वति के अर्त्तगत जो संगीत आता था उसे समाज के नाम से जाना जाता था। आठों प्रहर जो प्रभू की सेवा की जाती थी उन सब सेवाओं में समाज गान होना अनिवार्य था। इस समाजगान पद्धति के प्रर्वतक श्री हितहरिवंश जी माने गए हैं। उन्होंने सामवैदिक स्वर प्रधान संगीत को अक्षर प्रधान बनाकर एक नवीन गान पद्धति 'समाजगान' को जन्म दिया।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय में वाणी गायकों को समाजी और उनके गान को समाज कहा जाता है और यह परम्परा आज भी सुरक्षित है। यह वाणी समाजियों के मध्य एक ऊँची चौकी पर विराजमान की जाती है और समाज को प्रारम्भ करने से पूर्व वाणी का चन्दन माला आदि से पूजन किया जाता है। वाणी के पूजन के बाद समाजियों का भी पूजन किया जाता है। इन समाजियों की संख्या समाज गान में कम से कम चार और

अधिक से अधिक जितनी भी हो सकती है। समाज गान का प्रधान गायक मुखिया कहलाता है और प्रधान गायक मुखिया का शेष समाजी अनुगमन करते हैं।

प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि विभिन्न गेय पद विभिन्न रागों व तालों में गाए जाते थे। पदों के गायन में लयकारी, मींड, तान, अलाप, कण, गमक, आर्विभाव तिरोभाव बोलतान इत्यादि का कोई स्थान नही है। समाज–गान स्वर प्रधान ना होकर अक्षर प्रधान है और इसमें संदेह नहीं कि पद गायन में अलाप तान, गमक आदि का प्रयोग करते समय अक्षर के विकृत हो जाने की सम्भावना रहती है। प्रत्येक पद की एक विशेष धुन होती है, जो किसी विशेष राग व ताल में ही गाई जा सकती है। विद्वानों के मतानुसार प्रत्येक पद को पूर्व परम्परागत धुन में बिना किसी अन्य मिश्रण के ज्यों का त्यों गायन कर लेना ही समाजगान की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की कठिन कसौटी है।

समाज में सारंगी, तानपुरा, झॉझ और पखावज से संगत की जाती थी। पखावज के ठेकों के साथ–साथ उसकी परने और विभिन्न प्रकार की लग्गियां भी बजाई जाती थी। इन परनों व लग्गियों को पदगान के साथ किसी नियत समय पर ही लगाने का विधान था। पखावजी की यही विशेषता थी कि उसके पखावज वादन की ध्वनि इतनी हो जिससे समाजगान में गाए जाने वाले अक्षर समाजियों तथा श्रोताओं के सुनने में बाधा न पडे। साथ ही साथ उसे यह ध्यान रखना पडता था कि पखावज के बोल वादन के कारण समाजियों तथा श्रोताओं का ध्यान अक्षरों से हट कर उन बोलों की ओर केंद्रित न हो। समाजगान अधिकतर विलम्बित लय में ही गाया जाता था क्योंकि विलम्बित लय में अक्षर का उच्चारण सरलता पूर्वक स्पष्ट रूप में किया जा सकता है, जिसके कारण भावों की अभिव्यक्ति और अनुभूति सहज की जा सकती है। पद की अन्तिम तुक को द्रुत लय में गाने का विधान था।

इस सम्प्रदाय में अक्षर प्रधान संगीत होने से विलम्बित लय की प्रधानता थी। इसलिए धमार ताल को पद गायन में प्रमुखता दी गई। इस ताल की गति गम्भीर होने के कारण ये विलम्बित लय के अनुकूल है। होरी, धमार, झुलनोत्सव, श्री लाडिलीलाल जी की जन्म बधाईयों आदि के उत्सवों पर धमार ताल से ही समाज गायन में पदों की संगत की जाती थी। वैसे तो मध्ययुगीन आचार्यों ने पदों की संगत के लिए झपताल, सूलताल, रूपक, दीपचन्दी (चांचर) चारताल आदि तालों का भी प्रयोग किया है परन्तु सम्प्रदाय में प्रधानता धमार ताल को ही दी गई है और यह तो सर्वसिद्ध ही है कि यह ताल धमार गायन के साथ ही बजाई जाती है। पदगायन में कभी–कभी यदि छन्द में परिवर्तन आ जाता तो धमार ताल के स्थान पर उसके अनुकूल किसी दूसरी ताल को बजाने की परम्परा रही है।

मध्ययुग से आज तक की इतनी लम्बी अवधि ने यद्यपि समाजी कम होते जा रहे हैं परन्तु इस सम्प्रदाय के कुछ विशेष समाजियों को अब भी वह परम्परागत धुने कंण्ठस्थ हैं जिस कारण आज भी राधा–बल्लभ सम्प्रदाय के मंदिर में संगीत की परम्परागत प्रणाली सुनने को मिलती हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय में भी समाज गान की प्रथा थी। इस सम्प्रदाय के समाजगायकों को सुविधा हेतु दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में वे समाज गायक आते हैं जो इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होने के पश्चात् भी श्री श्यामा कुंज बिहारी की ही लीलाओं का गान करते हैं और उन्हीं से तादात्म्य बनाए रखने

हैं। दूसरी श्रेणी में वे समाजगायक आते हैं जो प्रिया–प्रियतम की केलि क्रीड़ाओं का सतत् रसास्वादन करते हुए भी अपनी शरण में आए हुए साधकों को उपास्य तत्व तक पहुंचाने में प्रयत्न शील रहते हैं।

समाज का प्रारम्भ सर्वप्रथम मुखिया दल करता है और सबसे पहले बिहारिन देव जी की दो सखियों मंगलाचरण के रूप में गाई जाती हैं जिन्हें समाज के सभी साधन एक साथ मिलकर गाते हैं। इसके पश्चात् श्री कृष्णदासी जी द्वारा विचरित "बडो गुरू मंगल" गाया जाता है जिससे छैः छै पंक्ति वाले कुल ग्यारह पद होते हैं। तत्पश्चात छोटों गुरू मंगल गाया जाता है। इसमें चार पंकित वाले कुल तीन पद हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय की समाजगान परम्परा इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि यह स्वामी जी का ही समाजगान था जिसने प्राचीन ध्रुपद शैली (जो उस समय किन्ही कारणो से लुप्त हो गई थी) को पुनः स्थापित किया। ध्रुपद भारतीय संगीत की प्राचीन परम्परा तथा संस्कृति का सुदृढ स्तम्भ है। यहां समाजगान में ध्रुपद धमार विशेष रूप से गाने की परम्परा है जो शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सीमा बद्ध है।

निष्कर्षतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय में संगीत की प्रधानता थी। साम्प्रदायिक उपासना का एक अंग संगीत को भी माना गया। स्वामी जी को राधा जी की सहचरी (संगीतज्ञा) ललित जी का अवतार माना गया। सभी आचार्यों की बाणियों में राग रागनियाँ, विभिन्न वाद्यों, नृत्य के प्रकारों (ताण्डव और लास्य) तथा गायन प्रकारों का भरपूर विवरण प्राप्त होता है। पदों में शब्दों को इतने सुंदर ढंग से सजाया गया है कि स्वतः ही उसमें गेवत्व रूप उमड़ता है। संगीत के अनिवार्य तत्व, भाव, रस, लय, समय व ऋतु अनुसार पदों का रागों में बद्ध होना नृत्य के विभिन्न बोलो इन सब ही तत्वों का मिश्रण आचार्यों की वाणियों में मिलता है। सम्प्रदाय की विशेषता यही है कि स्वतः ही उसमें गेयत्व रूप उमड़ता है, अन्य सम्प्रदायों की भांति आराध्य के प्रति उपासना हेतु हरिदास जी के शिष्य प्रशिष्यों में से श्री ललित किशोरी देव ने एक सप्ताह की समाजगान पद्धति चलाई जिससे अन्य भक्त भी समाज का श्रवण कर मानव सेवा में व्यक्त हो सकें।

निम्बार्क सम्प्रदाय

सखी सम्प्रदाय एवं राधाबल्लभ सम्प्रदाय की भांति इस सम्प्रदाय में भी संगीत "समाजगान" रूप में प्रचलित था। जहाँ जहाँ "समाज" शब्द का प्रयोग हुआ हैं वहाँ–वहाँ इस शब्द का प्रयोग संगीतात्मक अर्थ में ही किया गया है।

"समाज" शब्द का अर्थ सभा, समूह, दल, समुदाय इत्यादि होने से इतना स्पष्ट कह सकते हैं कि उस समय श्री युगल प्रिया की विभिन्न लीलाओं का गायन पांच–छः भक्त संगीतज्ञ इकटठे होकर करते होंगे क्योंकि उनकी वाणियों में भी जहाँ जहाँ युगल प्रिया का सखियों द्वारा गायन किया गया है वहाँ सखियों के अनेक समूह ही श्री लाडिलीलाल की प्रशंसा में गाते हुए दिखाए गए हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में समाज गान की परम्परा बड़ी प्राचीन है। इस सम्प्रदाय में श्री भट्टणाचार्य ब्रज भाषा के आदि वाणीकार माने जाते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय का समाजगान ध्रवपद की परम्परा से चला आ रहा है। उत्सव बधायों के पद संग्रह ग्रन्थ यत्र–तत्र मिलते रहे हैं जो केवल ब्रज में ही नहीं वरन भारत के अन्य प्रान्तों के विशिष्ट मठ मंदिरों में भी उपलब्ध हैं। इस सम्प्रदाय का आचार्यपीठ श्री पुष्कर क्षेत्र, निम्बार्क तीर्थ, अजमेर राजस्थान में है।[1]

आलापचारी में अत्यंत सूक्ष्म नीड़ के अतिरिक्त समाजगान में तान का प्रयोग वर्जित है। ध्रुवपद धमार के रूप में समाज गान प्रारम्भ में विलम्बित लय में प्रारम्भ करके समापन द्रुत गति में ही होता है। श्रृंगार और वात्सल्य की दिव्य भावधराओं से अनुसिंचित भक्ति पूर्ण रचनाएं ही समाजगान प्रणाली का आधार है। यह समाजगान ईष्ट की उपासना तथा सम्प्रदाय सम्बद्ध आचार्यों की प्रादुर्भाव तिथियों में तथा होली, हिंडोल, बसन्त, सॉझी, दीपावली तथा शरद आदि वार्षिक माहेत्वसों पर मंगल बधाई पदों तथा उत्सव सम्बंधी पदों द्वारा होता है। साढे तीन सौ वर्ष पुराने पद संग्रह आज भी वृन्दावन में उपलब्ध है जिससे उस समय के समाजगान की स्थिति अवगत होती है। वृन्दावन में निम्बार्क सम्प्रदाय के समाजियों में आज श्री रूपकिशोर दास जी तथा नवल किशोर दास जी, श्री वेदराम जी आदि मुखिया विद्यमान है। इससे पूर्व मुखिओं में गोपालदास जी, प्रर्णदास जी, कुन्जबिहारी दास जी रमणदास जी तथा गोकुल दास जी आदि के नाम उल्लेखनीय है।[2]

गौड़ीय सम्प्रदाय

गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रचारक महापभु चैतन्य का तो नाम–संकीर्तन" संगीत की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने सम्पूर्ण बंगाल में तथा उसके पश्चात वृन्दावन आकर हरिनाम संकीर्तन का प्रचार किया। भगवद भजन के रूप में इष्ट की प्राप्ति हेतु भगवद सम्बन्धित महामंत्र "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे" इन शब्दों को एक धुन में बांध कर उसका जन समाज के बीच प्रचार किया जिसको उन्होने "नाम संकीर्तन" की संज्ञा दी। यद्यपि वह स्वर, नाद तथा राग वृत्ति से सम्प्रेषित था। परन्तु फिर भी वह संगीत की शास्त्रिक परिभाषा की सीमा में बद्ध नहीं था। कालान्तर में उनके कुछ शिष्यों ने शास्त्रीय रूप से राग बद्ध किया जो "पदावली कीर्तन" के नाम से अभिसंज्ञात है।

चैतन्य माहप्रभु ने संकीर्तन में जाति–पांति या ऊंच–नीच का कोई भेदभाव नहीं रखा "संकीर्तन" का एक प्रमुख अंग भक्तिपूर्ण नृत्य था। स्वयं श्री चैतन्य और उनके प्रधान सहकारी संकीर्तन करते हुए नृत्य किया करते थे।[3] ये प्रायः खड़े होकर पद गाते थे।

निस्सन्देह इस सम्प्रदाय में भी अन्य सम्प्रदायों में प्रचलित विभिन्न संगीत पद्धतियों की भांति कीर्तन तथा प्रमुख रूप से पदावली कीर्तन का विशेष स्थान रहा जो पूर्व मध्यकाल में जयदेव कृत गीत–गोविन्द की राग तथा तालबद्ध अष्टपदियों के गायन का प्रचलन होने के कारण प्रबंधगान से तो प्रभावित था ही परन्तु साथ–साथ 16वी शती में चैतन्य मत के कुछ शिष्यों के वृन्दावन आकर निवास करने से यह भी सिद्ध होता है कि पदावली कीर्तन ध्रुवपद अंग से भी सहज रूप से प्रभावित था क्योंकि ये काल ध्रुपद गान का चरमोत्कर्ष काल था। कीर्तन में खोल तथा करताल वाद्य का विशेष स्थान था। पदावली कीर्तन में प्रयुक्त असंख्य तालों का अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग में पदावली कीर्तन अत्यंत सुनियोजित तथा सुव्यवस्थित रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए था। श्री चैतन्य, षड्गोस्वामी तथा सम्प्रदाय सम्बद्ध अन्य संगीतज्ञों की असंख्य वाणियों का अवलोकन करने से ये भी सिद्ध होता है कि कीर्तन में संगीत, साहित्य तथा भक्ति का समन्य पूर्ण रूप से था जो गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति संगीत के आध्यात्मिक पक्ष, शास्त्र पक्ष तथा कला पक्ष की परिपक्व अवस्था को दर्शाता है।

इसके अलावा बंगाल में एक और सम्प्रदाय का जन्म हुआ जो रामकृष्ण मिशन के नाम से जाना जाता था। इस मिशन के लोग काली के उपासक होते थे। भारत में जगह–जगह रामकृष्ण मिशन के नाम से केन्द्र खुले हुए हैं, जहाँ पर कीर्तन गायन की परम्परा आज भी प्रचलित है।

इसी परम्परा के प्रसिद्ध सन्त स्वामी रामकृष्ण परमहंस हुए और श्री विवेकानंद उनके प्रमुख शिष्यों में थे जिन्होने विश्व धर्म समारोह में अपने भाषण द्वारा सभी विद्वानों को आश्चर्य चकित कर दिया था। उन्होंने भारतीय धर्म एवं संस्कृति को विश्व के कोने–कोने में पहुंचाया था।

महाराष्ट्र

मध्यकाल में महाराष्ट्र प्रान्त में रामदास, तुकाराम और सुखबाई ने धार्मिक उपदेशों को गायन के द्वारा सामान्य जनता तक पहुंचाया। मध्यकाल में, इस प्रान्त के संगीत में, ख्याल, कव्वाली, सितार और तबले का प्रचार कम था परन्तु ध्रुपद और भजन गायन में दुन्दुभी, मृदंग और वीणा का प्रयोग अधिक किया जाता था। महाराष्ट्रीय संगीत का नैतिक स्तर उत्तर भारत के संगीत से उच्च था। संगीतज्ञों का समाज में उच्च स्थान था। महाराष्ट्र के संगीतज्ञों ने संगीत को व्यवसाय के रूप में अपनाकर कला के रूप में अपनाया था। उनका विश्वास था कि संगीत कला राष्ट्र के लिए तभी सार्थक बन सकती है जबकि वह मानव प्रेम का प्रकटीकरण करे। उनकी दृष्टि में जो संगीत मानव हृदय में उच्च भावों का आविर्भाव नहीं कर सकता वह श्रेष्ठ संगीत कदापि नहीं हो सकता। यह पवित्र भावना महाराष्ट्रीय, संगीत की पृष्ठभूमि थी। राग रागिनियों के शुद्ध रूप ही साधारण जनता में प्रचलित थे।

वास्तव में महाराष्ट्रीय संगीत ने भारतीय संगीत परम्परा के पवित्र गौरव को शानदार ढ़ंग से सुरक्षित रखा उन्होंने अन्त समय तक कला की एक सूत्रता, एकरूपता, एकदीप्तता को अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार मराठा काल का संगीत ही भारतीय संगीत की शुद्धता सुंदरता की दिव्यता को स्थिर रख सका और उसकी शिल्पता की उच्चता की समानता उस काल का यूरीपीय संगीत भी नहीं कर सकता।

निम्बार्क सम्प्रदाय में समाज गान की परम्परा बडी प्राचीन है। इस सम्प्रदाय में भी भट्टणाचार्य बृज भाषा के आदि वाणीकार माने जाते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय का समाजगान ध्रुवपद की परम्परा से चला आ रहा है। इस सम्प्रदाय का आचार्य पीठ श्री पुष्कर क्षेत्र निम्बार्क तीर्थ अजमेर राजस्थान में है।[4] संकीर्तन का एक प्रमुख अंग शक्तिपूर्ण नृत्य था। स्वंय श्री चैतन्य और उनके प्रधान सहकारी सकीर्तन करते नृत्य किया करते थे।[5]

इसी प्रकार महाराष्ट्र तामिलनाडू समाज आदि में कीर्तन के लिए ध्रुपद गायन शैली की ही प्रमुखता थी। मुगलकाल के समय तमिल संगीत के कीर्तनों की भरमार थी कीर्तन के लिए प्रमुख रचनाएं रागों में बांध कर गाई जाती थी। वास्तव में उत्तर भारत में जब यवन राजाओं का बोलबाला था तो कर्नाटक संगीत भारतीयता का पवित्र संदेश दे रहा था। मुगल काल में संगीत की आत्मा बडी संजीव एवं दिव्य थी इस काल में भक्ति संगीत एवं कीर्तन का यदि कोई सच्चा प्रतिनिधित्व कर रहा था तो यही कर्नाटक संगीत।

बौद्ध धर्म

वैदिक ऋचाओं की भॉति बौध सूत्रों को सस्वर पढने की प्रणाली थी। पाली महावाग तथा उदान में स्पष्ट उलेख है कि गौतम की इच्छानुसार कोण कुटिकण्ण नामक भिशु ने अट्टकवाग्गिक सूत्रों को सस्वर पढा था "सरेण अभासी"।[6] यद्यपि बौद्ध धर्म में धर्म संगीत को अधिक महत्व नहीं दिया गया फिर भी तिब्बत के मंदिर के संगीत एवं उसके वाद्य–यत्रादि उल्लेखनीय है। बौद्ध धर्म का भक्ति संगीत वैदिक परम्परा से मेल खाता है। इनमें स्वरों "का उतार–चढ़ाव नहीं होता। विशेषतया–"बुद्धम् शरणंम् गच्छामि" का ही उच्चारण सामूहिक रूप से किया जाता है। "ये लोग अपने धर्मानुष्ठान में ड्रिलब क्तपसइन नामक एक छोटी सी घंटी बजाते हैं, जो रोमन कैथॉलक चर्च में प्रयुक्त घंण्टी के सादृश्य है।[7]

बौद्ध धर्म में मृत पूर्वजों की स्मृति में एक वार्षिक अनुष्ठान होता है, जिसे बौद्ध धर्मावलम्बी उद्यापन कहते हैं। एक ऐसे अनुष्ठान का वर्णन करते हुए केप्टन टारनर ने अपने एक प्रबंध में कहा है कि उस अनुष्ठान में वहां के सब लोग अपने घरों को दीपमालाओं से आलोकित करते हैं। नगर के सभी गृह शीर्ष आलोकोज्वल किए जाते हैं। चारों ओर मंदिरों में विविध वाद्ययत्रों के साथ प्रार्थना संगीत होता है। मध्यरात्रि में जब वह संगीत स्तब्ध हो जाता है और चारों और शांति छा जाती है, जब सब लोग धीरे–धीरे अपने पूर्व पुरूषों की आत्माओं की शांति के लिए, प्रार्थना आरम्भ करते हैं। यह अनुष्ठान इतना संतुलित सुपरिकल्पित व सुरूचिपूर्ण होता है कि लगता है कि कोई भी मानवीय उत्सव या पर्व इतना पवित्र व गम्भीर नहीं होता होगा।[8]

बौद्ध धर्म में अधिकतर गीत बुद्ध से सम्बन्धित या धार्मिक विषय पर होते हैं। कभी–कभी वह गीत राजाओं की वीर गाथाओं पर भी होते हैं किन्तु वे सभी गीत सर्वदा शोकपूर्ण धुन में होते हैं। संगीत की ताल साधारणतः धीमी होती है, किन्तु उसकी लय बदलती रहती है।

बर्मा के संगीत व नाटकादि बौद्ध व हिन्दुओं की पौराणिक गाथाओं पर आधारित है। वहां के बौद्ध मंदिरों में जब पूजा वन्दनादि होती है तो उसमें प्रार्थना संगीत होता है और उस संगीत में वाद्य या नृत्य का सहयोग भी रहता है। रंगून के गोल्डेन पैगोडा Golden Pogoda घंटी विशालता के लिए प्रसिद्ध है। वैसी ही एक घंटी मौलमई शहर में भी है, इस घंटी को पूजा उत्सवादि के समय सब दर्शनार्थी एक या दो बार हिरन के सींग से बजाया करते हैं।[9]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म के भक्ति संगीत अथवा प्रार्थना संगीत में स्वरों का उतार चढ़ाव अधिक नहीं होता, प्रायः धीमी लय में गाते हैं और उनके प्रार्थना संगीत में घण्टी का विशेष स्थान है, जिसे वे लोग लय कायम रखने के लिए प्रयोग में लाते हैं एवं कुछ चर्म ताल वाद्यों का भी प्रयोग करते हैं। बौद्धों को वहीं संगीत सम्मत था जो अध्यात्मिक साधना के लिए बाधक न हो बौद्ध विहारों में संगीताराधना के लिए देवदासियों की नियुक्ति होती थी तथा इनकी नीतिमत्ता पर प्रयाप्त ध्यान दिया जाता था।[10]

जैन धर्म

हिन्दू धर्म से उद्भूत प्राय सभी धर्मो का कीर्तन के माध्यम से संगीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं। यह तीर्थकारों के प्रति भक्तिगीतों द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित करता है। जैन पर्वों को

प्रायः सुगम संगीत पर आधारित भजनों के गायन द्वारा रसमय बनाते हैं। शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता कलाकार शास्त्रीय संगीत शैली पर आधारित भक्ति गीत गाते हैं जिससे उस समाज में शास्त्रीय संगीत के प्रति निष्ठा उत्पन्न होती है। जिस का जीता जागता उदाहरण रविन्दर जैन एक कुशल गायक कवि तथा संगीत निर्देशक है।[11]

जैन अनुयायियों का मत है कि संगीत का प्रवर्तन भगवान महावीर द्वारा हुआ। महावीर स्वामी ने सर्व प्रथम यह अवाज बुलन्द की कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी जाति या वर्ग में पैदा हो ईश्वर उपासना कर सकता है और ईश्वर उपासना के लिए संगीत विधि सीख सकता है। इस प्रकार संगीत की धार्मिकता पहले पहल इस युग में ढीली हुई संगीत की धार्मिकता पर बन्धन का आवरण जो चढा था इस युग ने हटा दिया और संगीत की पावन साधना करने का अधिकार मानव मात्र को मिल गया।[12] प्रसिद्ध इतिहासकार वाल्टेयर ने अपनी पुस्तक, "दी हिस्ट्री ऑफ इन्टरनल फैक्ट ऑफ इंडियन म्यूजिक" में लिखा है कि "जैन युग में हमें बड़ा ही सजीव एवं प्राणवान तथा स्फूर्ति पूर्ण संगीत मिलता है। इस युग में संगीत ने अपने पुराने जातीय बन्धनों को तोड़ दिया था। वह सबके लिए साधना का मुख्य विषय बन गया था। संगीत की इस अभिन्न करवट से पिछड़ी हुई कौमों तथा शूद्रों ने, जो अब तक संगीत से वंचित रखे जाते थे, पूरा पूरा लाभ उठाना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार जैन युग में मानव की सबसे बड़ी भूल का परिष्कार किया गया। इसमें संगीत का रूप व्यापक बना। संगीत की वेगपूर्ण धारा रंक से लेकर राजा तक धारावाहिक रूप से प्रवाहित होने लगी। संगीत के शिल्पकज्ञान का भी इस युग में विकास हुआ। अनेक नवीन नवीन ध्वनियों तथा गायन शैलियों ने जन्म लिया। वाद्यों में मृदंग वीणा और दुदंभी ढप का प्रयोग होता था। जैन काल में संगीत के माध्यम से धार्मिक अभिव्यंजना भी होती थी। जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म के प्रचार के लिए नाटकों के आयोजन किए जाते थे।

अनेक प्रकार के वाद्यों का उल्लेख "रामापसेपी सुत" नामक जैन ग्रंथ से प्राप्त होते हैं। जैसे शंख, सिंग, बल्लकी मददल अर्थात् मर्दल चित्रवीणा, नकुल, विपंची, मुरय (सुरज) पडह (पटह) डिंडिम, करडा (करटी), कच्छमी (कच्छपी) सुघेषा इत्यादि सूर्यडंग में कुक्कय वीणा तथा वेणुपलासीय वाद्य का उल्लेख किया है तुम्बवीणा तथा तूण वादन करने वालों को संगीतज्ञों में उच्च स्थान प्राप्त था। साधु सम्प्रदाय शंख का वादन प्रातः एवं सायं पूजा के समय करते थे।

जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि जैन काल में संगीत के सार्वजनिक समारोह होते थे इन उत्सवों के शुभ अवसरों पर सभी नर–नारियाँ सम्मिलित होती थी तथा सामूहिक रूप से गान व नृत्य आदि के कार्यक्रम होते थे। जन समुदाय का मनोरंजन करने वालों में व्यवसायिक कलाकार गांधर्व नट, नर्तक, लासग, लंख आदि होते थे। डोम जाति के लोग संगीत के लिए प्रसिद्ध थे होली आदि प्रकार के उत्सवों के अवसरों पर गायक व नर्तक टोलियाँ बनाकर नगर में भ्रमण करते थे। उपरोक्त कथन की पुष्टि "उन्तराध्ययन टीका" से होती है। इसी प्रकार किनिक वर्ग के लोग वाद्यों के चर्म मंढ़ने का कार्य करने थे।

मुस्लिम धर्म

इतिहास का सामान्य लेखक निसंकोच यह लिख देता है कि औरंगजेब संगीत का विरोधी था और उसने अपने दरबार में गाना बजाना निषिद्ध कर दिया था। परन्तु संगीत के इतिहास का लेखक यह देखेगा कि औरंगजेब के दरबार में जब संगीत को निषिद्ध किया तब उसकी आयु पचास वर्ष की थी। उन्चास वर्ष की आयु तक वह संगीत सुनता रहा, संगीतज्ञों को पुरस्कार देता रहा, उसे समर्पित करने के लिए संगीत ग्रन्थों की रचना होती रही। दरबार में गाने बजाने का निषेध औरंगजेब ने सुन्नी मौलवियों और बहुसंख्यक सुन्नी मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए समय की आवश्यकता को देखते हुए केवल राजनीतिक दृष्टि से किया था। उसके अन्तपुर में गाना बजाना सदैव हुआ और अन्तःपुर के लिए गायिकाओं की नियुक्ति वह स्वयं करता था।[13]

1667–1668 ई. में औरंगजेब ने आदेश दिया कि गायक लोग दरबार में आए, परन्तु गाना न गाएं। इस आदेश के कारण विशुद्ध राजनैतिक थे इटालियन इतिहासकार मनुक्कि के अनुसार इस प्रतिबन्ध के पश्चात भी औरंगजेब बेगमों और शहजादियों के लिए गयिकाओं और नर्तकियों की नियुक्ति करता था और अन्तःपुर में गाना बजाना होता था।[14]

वास्तव में औरंगजेब के सामने भारतीय संगीत की उत्कृष्टता नहीं थी, उनके सामने तो अरबी संगीत का ज्ञान था। उसी के बल पर उसने संगीत को घृणास्पद समझा। यदि औरंगजेब भारतीय संगीत के यथार्थ पहलू को समझ पाता तो कदापि भारतीय संगीत के प्रति इतना कडा कदम ना उठा पाता। संगीत का जो रुपदेश में प्रचलित हो रहा था उसी को उसने भारत का वास्तविक संगीत समझा और वह प्रचलित संगीत पूर्णरुपेण अनैतिक था। मनुष्य को मनुष्यता से गिराने वाला था। उसमे पवित्रता नाम की कोई झलक नहीं थी। अतएव उसके दिमाग मे संगीत की बड़ी सकीर्ण तस्वीर अंकित थी। अगर उसे यह मालूम हो जाता कि संगीत के द्वारा इन्सान अपने जजबातों में रूहानी रोशनी भर सकता है तो फिर वो संगीत को जरूर पसन्द करता।[15] क्योंकि संगीत उस समय पूर्ण विलासमय हो रहा था इस लिए उसे इसमे घृणा हो गई। यदि उसको भारतीय संगीत की पवित्रता एवं उत्सुकता का ज्ञान करवाया जाता तो शायद उसके विचार अवश्य बदल जाते। किन्तु ऐसा ना हो सका। हिन्दू कलाकारों को तो कभी मौका ही नहीं मिलता था कि वे अपनी कला बादशाह के सामने प्रदर्शित कर सके।[16]

मुसलमानों में सूफी मत विशेष लोकप्रिय हुआ सूफी संत ईश्वर प्रेम में रचित कलाम गाते और भाव विहवल होकर नाचने लग जाते। प्रायः यह काफीयां और कव्वालियां गाते और सुनते। इस प्रकार की सभा को 'समाऊ' कहते थे। 'समाऊ' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'श्रवण' करना है। मुसलमान होते हुए भी सूफी संत धार्मिक कट्टरता से मुक्त थे। पंजाब अंचल में शाह इनायत प्रसिद्ध सूफी सन्त थे जिनके शिष्य बुले शाह द्वारा रचित कव्वालियां आज भी बड़ी श्रृद्धा से गाई जाती है।[17]

संगीत को ग्राह्य मानने वाले चिश्ती परम्परा और सुहरावर्दी परम्परा के सूफी भी भारत आए तथा संगीत को त्याज्य मानने वाले मौलवी या काजी भी। संगीत की ग्राह्यता और त्याज्यता के सम्बन्ध में विवाद भी चलता रहा। शम्सुद्दीन इल्तुत्मिश के दरबार में हमीदुद्दीन नागौरी और गयासुद्दीन तुगलक की सभा में शेख

निजामुद्दीन चिश्ती और मौलाना इल्मुद्दीन ने यह सिद्ध किया कि भक्तिपरक संगीत इस्लाम की दृष्टि में त्याज्य नहीं है।[18]

इस प्रकार हम कह सकते है कि मौलवी लोग संगीत को त्याज्य मानते थे चिश्ती परम्परा के सूफी लोग भक्तिपरक संगीत आवश्यक मानते थे। अस्तु संगीत की ग्राह्यता और त्याज्यता के विषय में मौलवियों और सूफियों में सदैव मतभेद रहा है।

शब्दों से चिपके रहने वाले मौलवी जहां गाना बजाना नाचना सर्वथा वर्जित समझते आऐ हैं वहां ईश्वर के ध्यान में आत्मविस्मृत होकर गाना बजाना नाचना शेख जुनैद बगदादी तथा शेख अवूवक शिब्ली जैसे सूफियों की दृष्टि में वैध ही नही आवश्यक भी है।[19]

विभिन्न हदीमों का निष्कर्ष यही है कि ईश्वर की ओर मन को एकाग्र करने के लिए गाना बजाना सर्वथा उचित है। इस्लाम धर्म में सूफियों की दृष्टि में ईश्वर के प्रति प्रेम ईश्वर प्राप्ति का साधन था और गुरू के बताए हुए मार्ग का अवलम्बन करने से उनकी दृष्टि में ईश्वर की प्राप्ति संम्भव है। हज़रत मुहम्मद साहब की उक्तियों और उनके जीवन की घटनाओं को देश–देश में घूम–घूम कर सुनाने वाले मुसलमान मुहम्द साहब के चरित्र का स्मरण और कीर्तन ही परम कर्तव्य मानते थे।[20]

अजमेर में ख्वाजा मोइनूद्दीन चिश्ती और दिल्ली में शंख निजामुददीन चिश्ती की दरगाह पर "कव्वाल" लोग गाते–बजाते हैं। जिसे "रंग" कहा जाता है। 'कव्वाली रागों में होती है और इसे विलम्बित' लय में गाते है। यह एक कीर्तन की शैली है जिसे वादन के साथ गाया जाता है। इसके अलावा मुहर्रम के दिनों में शिया मुसलमान "मर्सिये" और "सोज़" पढ़ते है। सोज राग–रागनियों में बंध होते है। सोज़–गाने वालो को "सोज़ख्वा" कहते है। ये लोग तानपुरे के साथ विधिवत् अभ्यास करते हैं।[21]

अच्छे ख़्याल गायकों को भी "सोज़" याद होते हैं, मुहर्रम के दिनों में यद्यपि मुसलमान गातें–बजाते नहीं, तथापि "सोज़" पढ़ते हैं। शेख़ मुईनुद्दीन चिश्ती की संगीत मर्मज्ञता के विषय में कुछ भी कहा जाना सम्भव नहीं, परन्तु उनकी सेवा में ऐसे कव्वाल थे, जो हिन्दी में सूफी विचारधारा के प्रतिपादक माने जाते थे।

कव्वाल लोग दरगाह में अपना गायन "रंग" से आरम्भ करते हैं। रंग में प्रायः ईश्वर की स्तुति के साथ–साथ औलियाओं की प्रशस्ति की जाती है। रंग की भाषा बोल–चाल की होती जिसमें उर्दू एवं रूप अवधि भाषा के शब्दों का मिश्रण होता है। उदाहरणतः एक प्रसिद्ध रचना–"आज रंग हैऐ मां रंग है जी आज रंग है"– गाते हैं और बीच–बीच में मोइनुददीन चिश्ती निजामुददीन औलीया आदि के नाम ले लेकर उनके गुणों की व्याख्या करते हैं।

ईसाई धर्म

बाइबल से ज्ञात होता है कि जैनेसिस के मतानुसार सेथ 3664 ई॰ पू॰ के समय में मानव ने सर्वप्रथम ईश्वर की उपासना आरम्भ की थी। पद्रे मर्टिनी का कहना है कि उस समय से ही ईश्वर की प्रार्थना में संगीत का प्रयोग होने लगा।[22]

इंग्लैण्ड में सैक्सन सम्प्रदाय ने आक्रमण किया उस समय हार्प का विकास हो चुका था। सैक्सन सम्प्रदाय ने जब पोप ग्रेगरी के प्रभाव से ईसाई धर्म ग्रहण किया तब से वहां चर्च मठ आदि में संगीत के माध्यम से उपासना आरम्भ हुई। पादरी डानस्टन ने चर्चों में आर्गन के साथ वन्दना गीत का प्रचलन किया। टवेर्नर एक उत्तम आर्गन वादक व संगीत रचयिता थे। वे आक्सफोर्ड के को–आरडियल कॉलेज में नियुक्त थे धार्मिक मतभेद के कारण सन् 1523 में उनको हिरासत में ले लिया गया था। उन्होंने अनेक मास, मोटेट आदि की रचनाएं की। अष्टम हेनरी के शासन काल में कई लोग अपने विश्वसनीय धर्म को छोड़कर ईसाई धर्म को अपनाने लगे। फलस्वरूप नए धर्म प्रतिष्ठानों के रूप में चर्चों की स्थापना होने लगी। उस समय रोमन प्लेन सॉग के स्थान पर कोरल गीत की सृष्टि हुई।[23]

ईसाई धर्म के प्रार्थनागृहों (चर्च) में नित्य प्रति ईसा–मसीह से सम्बधित पदों का गान सामूहिक रूप से होता है। सप्ताह के अन्तिमदिवस रविवार को प्रायः प्रत्येक चर्च में प्रातः प्रार्थना सभाएं होती हैं जिसमें सामूहिक रूप से (स्त्री पुरूष) चैपल गान करते हैं। रोगियों को निरोग, निराश्रितों को आश्रित, कुमार्गियों को सदमार्ग आदि प्रदान करने की प्रार्थनाएं की जाती हैं।

सिख धर्म

भारत में इस्लामी शासन स्थापित हो जाने के पश्चात दो मुख्य धर्म साथ साथ चलने लगे–हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म। हिन्दू धर्म के चार मुख्य वर्ण थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य और शूद्र। मुस्लिम काल में भारत की हिन्दू जनता की अत्यन्त शोचनीय अवस्था थी। हिन्दुओं का आत्मबल क्षीण हो रहा था शासन में उनके लिए न तो सम्मान था और न महत्वपूर्ण स्थान। जज़िया आदि करों के भार से हिन्दू समाज की कमर झुक गई थी। विषमताओं के कारण चरित्र की दुर्बलता उत्पन्न हो गई थी। जाति पांति भेद, वर्ण संघर्ष आदि अभिशाप सर उठा रहे थे और सामाजिक अवस्था विघटन की ओर उन्सुख थी। धर्म के नाम पर पाखण्ड और अनाचारों ने अपना प्रभुत्व जमा रखा था। एक ओर साधु, सिद्ध आदि झूठी बातों द्वारा जनता में अन्ध विश्वास फैला कर उन्हें मूर्ख बना रहे थे और धन ऐंठ रहे थे, दूसरी ओर सती प्रथा जैसी क्रूर रीति को प्राश्रय प्राप्त हो रहा था। जब अधर्म अपनी सीमा को पहुंच जाता है, तो भगवान धर्म की रक्षा के लिए, स्वयं मानव रूप में अवतरित होते हैं, गीता में दिए गए आश्वासन की पूर्ति गूरू नानक देव जी के अवतरण से हुई। रामचरित मानस में भी ऐसे ही आश्वासन का उल्लेख मिलता है। गुरू नानक देव जी के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रान्तों में कबीर, नामदेव, दादू, मलूक दास, रविदास, हरिदास, सूरदास चैतन्य महाप्रभु, मीरा आदि संतों ने अवतरित होकर धर्म की मर्यादा की रक्षा की और साथ ही अपने भजन–कीर्तन द्वारा शास्त्रीय संगीत कला को नितान्त प्राणहीन होने से बचाया।[24]

सिख–सम्प्रदाय का भक्ति संगीत, मुख्यतः उत्तर–भारतीय शास्त्रीय संगीत पर ही आधारित है। परन्तु फिर भी कीर्तन दरबारों में प्रायः भिन्न–भिन्न कीर्तन शैलियां सुनने में आती हैं। प्रमुख रूप से प्रचलित गायन शैलियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता हैः–

1. शास्त्रीय संगीत पर आधारित 2. उपशास्त्रीय संगीत पर आधारित 3. लोकधुनों पर आधारित।

आरम्भ से ही सिख गुरूओं में संगीत की परम्परा रही है। विभिन्न सिख गुरूओं के समय में सिख धार्मिक संगीत भारतीय संगीत की एक गायन विधा पर आधारित रहा है उन दिनों ध्रुपद गायन शैली बहुत लोकप्रिय थी। इसलिए सिख रागी रबाबीयों ने भी इस शैली को अपनाया और गुरू ग्रंथ साहिब के शब्दों की संगीत–रचना भी इसी ध्रुपद शैली में की। परन्तु धीरे–धीरे–ख्याल गायकी का विकास हुआ तो सिख धर्म के कीर्तनकारों ने भी ख्याल गायकी को अपना लिया। रागी अपनी इच्छानुसार शब्दों को ध्रुपद तथा ख्याल शैली पर गाने के लिए स्वतंत्र हैं।

प्रायः हम गुरूद्धारों में देखते हैं कि संगीत में पारंगत रागी पहले "नोमतोम" अथवा "आकार" में राग का अलाप करते हैं उसके बाद विलम्बित ख्याल शैली पर गाते हुए बोल–अलाप, बोल तान, गमक, सरगम आदि का प्रदर्शन करते हैं। इसके बाद उसी शब्द अथवा किसी दूसरे शब्द को द्रुत लय में गाते हुए छोटे ख्याल का रूप श्रोताओं के सम्मुख रखते हैं जिसमें वे अनेक प्रकार की तानों एवं पलटों का प्रयोग कर अपने द्रुत लय के शब्द को अलंकृत करते हैं। इसी प्रकार लयदारी के चमत्कार ध्रुपद धमार शैली में शब्दों को गाकर, प्रदर्शित करते हैं। इसमें शास्त्रीय संगीत की भाँति ही दुगुन, चौगुन, करने में रागी स्वतंत्र हैं।[25]

ध्रुपद, धमार तथा ख्याल शैली पर आधारित कीर्तन को शब्द रीत कहा जाता है जिसे सिख भक्ति संगीत में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रीत का अर्थ बन्दिश होता है। रीत में रागी जत्था अनेक रागों एवं तालों का प्रयोग करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही रीत की विभिन्न कड़ियों को भिन्न–भिन्न रागों में गाया जाता है। प्राचीन काल में इसी शब्द रीत को "टकसाली रीत" के रूप में जाना जाता था। यह परम्परागत रूप में चली आ रही है। यह सूलफाक, चौताल, धमार, झपताल, झूमरा, आड़ाचौताल, चंचल (दीपचंदी) आदि तालों में निबद्व होती है।

इस क्रिया को "गुलदस्ता" कहते है। प्रायः इसे रागी लोग कीर्तन के अन्त में प्रस्तुत करते है। इसे कोई साधारण रागी अथवा कीर्तनकार प्रदर्शित नहीं कर सकता इसके लिए कुशल रागी होना आवश्यक है। क्योंकि इसमें बिना रूके रागों में परिवर्तन और साथ ही साथ तालों में परिवर्तन उपस्थित कर देना एक कुशल एवं उच्चकोटि के रागी की ही सामर्ध्य है। कीर्तन की समाप्ति पर किसी किसी अवसर पर सिख रागी शास्त्रीय संगीत के तराने के समान एक बंदिश का गायन भी करते हैं। यह बन्दिशें– "संगीतात्मक छन्द" के नाम से "दशम ग्रंथ" में संकलित हैं। इनमें गम्भीर नाद उत्पन्न करने वाले शब्द होते हैं जो नगाड़े के बोलों से मिलते–जुलते हैं।

कीर्तन की एक अन्य शैली "पड़ताल" के नाम से गुरूद्धारों में प्रचलित है, जिसमें राग तो वहीं रहता हैं, केवल उसकी ताले परिवर्तित हो जाती हैं। इसका प्रयोग भी कुशल रागियों द्वारा संभाव है। गुरू ग्रंथ साहिब में 11 रागों (कान्हडा, बसन्त, रामकली, आसा, देवगन्धारी, नट्टनाराण, भैरव, सारंग, प्रभाती, मल्हार) में पड़ताले उपलब्ध होती हैं।

सिख गायकी की वही विशेषताएं हैं जो पटियाला घराने में पाई जाती हैं। उनकी आवाज बनाने की अपनी एक स्वतंत्र शैली है। खुली आवाज का जोरदार गाना, भली प्रकार सजी हुई गीत की छोटी बंदिश, आलाप में छोटी–छोटी मुर्कियां सशक्त तानों का वेचित्रय एवं कला को चमत्कृत करने के लिए राग की

शुद्धता को छोड़कर थोड़े समय के लिए समप्रकृति रागों से सम तथा विषम रूपों में लगाते हुए पुनः फिर राग में वापिस आते हैं जिससे प्रभावित होकर श्रोतागण मुग्ध हो उठते हैं। इसमें मुर्कियों, सपाट तानों तथा गमक की तानों का एक विशेष ढंग होता है।[26]

उपशास्त्रीय संगीत पर आधारित

ऐसा संगीत जो जनरूपि के अनुसार प्रस्तुत किया जाए उसे उपशास्त्रीय संगीत कहते हैं। प्रायः कीर्तन सत्संगों में भी रागियों को जनरूपि का ध्यान रखना पड़ता है। क्योंकि ऐसा जरूरी तो नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति की समझ में शास्त्रीय संगीत आ जाए तो ऐसी अवस्था में रागियों को आम जनता का संगीत पर निर्मित धुनों का प्रयोग करते हुए शब्द गाने पड़ते हैं। जिनके अन्तर्गत कब्बाली, गज़ल, ठुमरी की शैलियों में निबद्ध शब्दों का गायन हैं। इन गायन शैलियों की विधाओं को आधारित करके लोक वाद्यों जैसे – करताल, ढोल, चिमटे, मंजीरा, छैना आदि के साथ गाया जाता है।

लोकधुनों पर आधारित

लोक धुनों पर आधारित एक अन्य कीर्तन शैली "वार" गायन कहलाती है। यह एक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय गायन शैली है। पंजाबी साहित्य में "वार" उस कविता को कहते हैं जिसमें किसी शूर वीर द्वारा रणभूमि में दिखाई गयी शूरवीरता का वर्णन हो। साधारणतः युद्ध के समय सैनिकों को प्रोत्साहन देने के लिए वीरता से भरे जो गीत गाए जाते हैं उन्हें "वारे" कहते हैं। इसकी कविता में वीर रस प्रधान होता है।

वारों का इतिहास बहुत पुराना है। गुरू साहिबों के काल में भी वार लोक काव्य रूप में प्रचलित था। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में भी अनेक स्थलों पर वारों का प्रयोग किया गया है। ग्रंथ साहिब में आई हुई वारें प्रभु के यशोगान के लिए गाई जाती है। इसमें दुनियावी लड़ाई का जिक्र नहीं मिलता अपितु मनुष्य की काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शत्रुओं के दमन का जिक्र आता है। सबसे पहले श्री गुरू नानक देव जी ने भक्ति भावना के लिए प्रचलित रागों का प्रयोग किया। उनका अनुसरण करते हुए बाकी गुरू साहिबान ने भी रागों में वारें रची।

यह वारें सिख सम्मेलनों और कीर्तन दरबारों में गायी जाती है। वारों के गाने वाले को "ढाढी" कहते हैं। यह वारों के लिए ढड और सारंगी का प्रयोग करते है। यह लोग लोकधुनों में शब्दों का विशेष प्रयोग कर वारों का गायन करते हैं। यह लोग प्रायः कविताएं भी रचते हैं और उन्हें लोक में निबद्ध कर सुनाते हैं। यह कविताएं वारों की ही भांति वीर रस से ओत–प्रोत होती हैं और विशेष पर्वो पर जैसे गुरूओं के शहीद दिवस, दो शहजादों के शहीद दिवस एवं बैसाखी के पर्व पर इनका गायन श्रोताओं में वीर रस का संचार करता है।[27]

इन वारों का गायन करने वालों में मुसलमान, हिन्दू एवं सिख धर्म के लोग पाए जाते हैं। लोक धुनों पर आधारित कीर्तन गायन का एक अन्य ढ़ंग भी प्रचलित है। जिसमें संगत भी भाग लेती हैं। इस प्रकार के कीर्तन को "जोटियों" के शब्द" कहा जाता है। यह परम्परागत रूप से लोक संगीत और पुरातन धारणा (तर्ज) पर आधारित होता है। और शताब्दियों से इसी रूप में चला आ रहा है। इस प्रकार का कीर्तन अत्यंत सरल होता है। प्रत्येक शब्द से पहले स्थाई होती है, जिसे रागी स्वयं गाता है। शेष सारी संगत मिलकर उसी पंक्ति को दोहराती है। दोबारा फिर अगली पंक्ति गाता है और संगत उसके पीछे–पीछे गाती है। इस कीर्तन शैली

में खड़ताल, ढोलक, चिमटा, मंजीरा और छैने आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के शब्दों का गायन गुरूद्वारों में गुरूपर्वों आदि के अवसर पर किया जाता है। शहरों में बड़े–बड़े नगरों में कीर्तन तथा प्रभातफेरियों के समय पर ऐसा कीर्तन होता है। इन अवसरों पर इस प्रकार का कीर्तन जन साधारण को आत्मविभोर कर देता है। यहां रागों पर आधारित कीर्तन नहीं होता।

इस प्रकार के शब्दों का गायन स्त्रियां भी करती हैं। सिख धर्म में जिस प्रकार पुरूष गायक होते हैं। उसी प्रकार स्त्रियों को भी शब्द गायन की पूर्ण स्वतंत्रता है। ये सामूहिक रूप से कीर्तन गायन तथा गुरू ग्रंथ साहिब के पाठ एवं कीर्तन में भाग लेती है। गुरूद्वारों में स्त्रियों के विशेष दीवान का प्रबंध किया जाता हैं, जिन्हें स्त्री सत्संग कहा जाता था। गुरूद्वारों में बाल–दीवान भी होते हैं, जिसमें छोटे–छोटे बच्चों को कीर्तन के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिख शब्द कीर्तन समाज के प्रत्येक वर्ग, शास्त्रीय संगीत तथा लोकधुनों पर आधारित कीर्तन संगीत रूचि रखने वाले श्रोताओं की रूचि को संतुष्ट करता है। यह शास्त्रीय संगीत के अनुभवी व्यक्ति को विभिन्न रागों तथा प्रचलन में आये हुए तालों में निबद्ध शब्द रीतों के माध्यम से आनंद प्रदान करता है। उपशास्त्रीय संगीत में रूचि रखने वाले श्रोताओं के लिए कव्वाली, गज़ल, आदि शैलियों पर आधारित कीर्तन संगीत उपलब्ध कराते हुए उन्हें आत्मविभोर करता है जो लोग लोकधुनों में कीर्तन सुनना चाहते हैं, उन्हें वह "जोटियां दे शब्द" आदि सुनाकर संतुष्ट करता है। इस प्रकार सिख धार्मिक संगीत में इन तीनों शैलियों का विशिष्ट स्थान है।

संक्षेप रूप में देखा जाए तो सारे धर्मों एवं सम्प्रदायों में भक्ति संगीत का प्रचार कीर्तन द्वारा हुआ। इसके लिए सबसे पहले ध्रुपद धमार शैली को अपनाया गया एवं बाद में मनुष्य ने अपनी रूचि के अनुसार इसमें ख्याल, टप्पा, कव्वाली एवं गजल आदि गायन शैलियों का भी प्रयोग किया धीरे–धीरे कीर्तन प्रणाली में रागों की शास्त्रीयता को छोड़कर उप शास्त्रीय संगीत एवं लोक धुनों पर भी कीर्तन होने लगा। सिख धर्म एवं और धर्मों ने भी इन गायन शैलियों को सहज ही स्वीकार किया एवं हर प्रयोजन से कीर्तन द्वारा अपने–अपने धर्म का प्रचार किया।

संन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. सक्सेना, राकेश बाला. मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत, नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन, 1990, पृ. 213
2. सक्सेना, राकेश बाला. मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत, नई दिल्ली :राधा पब्लिकेशन, 1990, पृ. 213–214
3. सक्सेना, राकेश बाला. मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत, नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन, 1990, पृ. 244
4. सक्सेना, राकेश बाला. मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत, नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन, 1990, पृ. 213
5. सक्सेना, राकेश बाला. मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत, नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन, 1990, पृ. 244
6. परांजपे, शरतचन्द्र. भारतीय संगीत का इतिहास, भोपाल : हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1985, पृ. 170
7. शर्मा, अमल कुमार दाश, विश्व संगीत का इतिहास, नई दिल्ली : रामकमल प्रकाशन, 1990, पृ. 133
8. शर्मा, अमल कुमार दाश, विश्व संगीत का इतिहास, नई दिल्ली : रामकमल प्रकाशन, 1990, पृ. 133
9. शर्मा, अमल कुमार दाश, विश्व संगीत का इतिहास, नई दिल्ली : रामकमल प्रकाशन, 1990, पृ. 137

10. परांजपे, शरतचन्द्र. भारतीय संगीत का इतिहास, भोपाल : हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1985, पृ. 176
11. बावरा, जोगिन्द्र सिंह. भारतीय संगीत की उत्पति एवं विकास, जालंधर : ऐ.बी.एस. पब्लिकेशन, 1994, पृ. 65
12. जोशी, उमेश. भारतीय संगीत का इतिहास, फिरोजाबाद : मानसरोवर प्रकाशन महल, 1969, पृ.110
13. ब्रसपति, आचार्य. मुसलमान और भारतीय संगीत, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1974, पृ. 10
14. ब्रसपति, आचार्य. मुसलमान और भारतीय संगीत, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1974, पृ. 23
15. जोशी, उमेश. भारतीय संगीत का इतिहास, फिरोजाबाद : मानसरोवर प्रकाशन महल, 1969, पृ.252
16. जोशी, उमेश. भारतीय संगीत का इतिहास, फिरोजाबाद :मानसरोवर प्रकाशन महल, 1969,पृ.250–251
17. बावरा, जोगिन्द्र सिंह. भारतीय संगीत की उत्पति एवं विकास, जालंधर : ऐ.बी.एस. पब्लिकेशन, 1994, पृ. 11
18. बृहस्पति, आचार्य. मुसलमान और भारतीय संगीत, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1974, पृ. 8
19. बृहस्पति, आचार्य. मुसलमान और भारतीय संगीत, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1974, पृ. 33
20. बृहस्पति, आचार्य. मुसलमान और भारतीय संगीत, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1974, पृ. 8
21. बृहस्पति, आचार्य. मुसलमान और भारतीय संगीत, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1974, पृ. 6
22. शर्मा, अमल कुमार दाश, विश्व संगीत का इतिहास, नई दिल्ली : रामकमल प्रकाशन, 1990, पृ. 58
23. शर्मा, अमल कुमार दाश, विश्व संगीत का इतिहास, नई दिल्ली:रामकमल प्रकाशन, 1990,पृ.221–222
24. बावरा, जोगिन्द्र सिंह. भारतीय संगीत की उत्पति एवं विकास, जालंधर : ऐ.बी.एस. पब्लिकेशन, 1994, पृ. 11
25. पेंटल, अजीत सिंह. सिख गुरूद्वारों के हरिकीर्तन में शास्त्रीय संगीत की परम्परा, लखनऊ : भारतीय संगीत विद्यापीठ, 1963, पृ. 52
26. पेंटल, अजीत सिंह. सिख गुरूद्वारों के हरिकीर्तन में शास्त्रीय संगीत की परम्परा, लखनऊ : भारतीय संगीत विद्यापीठ, 1963, पृ. 53
27. पेंटल, अजीत सिंह. सिख गुरूद्वारों के हरिकीर्तन में शास्त्रीय संगीत की परम्परा, लखनऊ : भारतीय संगीत विद्यापीठ, 1963, पृ. 55